International Journal of Enhanced Research in Educational Development (IJERED)
ISSN: 2320-8708, Vol. 14 Issue 5, September-October, 2026

अंतरात्मा से समाधि की यात्रा, समाधि चिंतकः आचार्य विभवसागर जी

स्वस्ति श्री स्वामी डॉ.जयेन्द्र कीर्ति (उज्जैन)[1],
डॉ.सारस्वत कवि श्रमणाचार्य विभवसागर महाराज[2]

[1]प्राद्योगिक विष्वविद्यालय जयपुर (म.प्र.)
[2]गुरू भूमि तीर्थक्षेत्र किषनपुरा जिला सागर म.प्र

DOI: https://doi.org/10.55948/IJERED.2026.0912

सारांष

अंतरात्मा से समाधि की यात्रा मनुष्य की वह गहन आध्यात्मिक प्रक्रिया है, जिसमें जीव बाह्य विषयों, राग-द्वेष और मोह की प्रवृत्तियों से विमुख होकर अपने निज आत्मस्वरूप की ओर उन्मुख होता है। यह यात्रा किसी बाहरी सत्ता में विलीन होने की नहीं, बल्कि अपने शुद्ध, चेतन और अनंतगुणमय आत्मद्रव्य का साक्षात्कार करने की यात्रा है। जैन दर्शन में इसका चरम स्वरूप निज आत्मस्वभाव में स्थित होना है।

1. अंतरात्मा का बोध- अंतरात्मा का बोध आत्मा की उस चेतन सत्ता की पहचान है, जो शरीर, इंद्रियों, मन और बाह्य पदार्थों से भिन्न है। आत्मा का वास्तविक स्वरूप ज्ञान और दर्शनमय है, किंतु कर्मों तथा राग-द्वेषजनित परिणामों के कारण जीव अपने इस शुद्ध स्वरूप को विस्मृत कर संसार में भटकता रहता है।

जागृतिः जब साधक बाह्य विषयों और सांसारिक आकर्षणों से अपना ध्यान हटाकर अपने भीतर के ज्ञाता-द्रष्टा स्वरूप को पहचानने लगता है, तब आत्मजागरण का प्रारंभ होता है। वह समझता है- "मैं शरीर नहीं, शरीर का ज्ञाता हूँ, मैं विचार नहीं, विचारों को जानने वाला चेतन आत्मा हूँ।"

2. मन की एकाग्रता और ध्यान- आत्मस्वरूप की ओर उन्मुख होने के बाद साधक का चित्त क्रमशः स्थिर होने लगता है। श्वास, मंत्र अथवा किसी बाह्य बिंदु पर एकाग्रता ध्यान की प्रारंभिक सहायता हो सकती है, किंतु जैन दृष्टि से ध्यान की उच्च अवस्था में साधक का लक्ष्य निज आत्मतत्त्व का चिंतन और अनुभव बन जाता है।

धारणा से ध्यानः प्रारंभ में मन बार-बार विषयों की ओर जाता है। अभ्यास द्वारा उसकी चंचलता कम होती है और आत्मा के ज्ञाता-द्रष्टा स्वरूप पर उसकी एकाग्रता बढ़ती है। विचारों का शमनः ध्यान गहरा होने पर अनावश्यक मानसिक उद्वेलन, राग-द्वेष और विकल्पों की तीव्रता क्षीण होने लगती है। साधक बाह्य विषयों में आसक्ति के स्थान पर आत्मस्वरूप में अधिक स्थिर होता जाता है। यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि जैन दर्शन में आत्मा और ध्यान के विषय का पूर्ण अभेद नहीं माना जाता। आत्मा स्वयं ज्ञाता-द्रष्टा द्रव्य है, अतः समाधि का अर्थ आत्मा का किसी अन्य सत्ता में विलय नहीं, बल्कि निज आत्मस्वभाव में स्थिरता है।

3. राग-द्वेष और कषायों का क्षय- अंतरयात्रा का वास्तविक परीक्षण केवल ध्यान की एकाग्रता नहीं, बल्कि साधक के परिणामों की शुद्धता है। जैसे-जैसे सम्यग्दर्शन और आत्मचिंतन दृढ़ होते हैं, वैसे-वैसे क्रोध, मान, माया, लोभ तथा राग-द्वेष की तीव्रता कम होती जाती है। यही अवस्था आत्मा को कर्मबंध के कारणों से दूर ले जाती है। कषायों का क्षय होने पर संवर की स्थिति दृढ़ होती है और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा का मार्ग प्रशस्त होता है।

4. आत्मानुभूति और निजस्वभाव में स्थिति- जब साधक बाह्य पदार्थों से अपनी सत्ता को पृथक् पहचानता है और आत्मा के ज्ञान-दर्शनमय स्वरूप में स्थिर होता है, तब आत्मानुभूति का गहन अनुभव प्रकट होता है। वह अपने भीतर स्थित चेतना को किसी बाहरी वस्तु से प्राप्त नहीं करता, बल्कि अपने ही निज स्वभाव को पहचानता है। यहाँ साधना का केंद्र बदल जाता है-

"मैं संसार को पाने के लिए नहीं, अपने आपको पहचानने के लिए भीतर जा रहा हूँ।"
जिनेंद्र भगवान का वीतराग स्वरूप साधक के लिए प्रेरणा और आलंबन बनता है। जिनबिंब या जिनवाणी का चिंतन अंततः साधक को स्वयं के शुद्ध आत्मतत्त्व की ओर मोड़ता है।

5. समाधि की अवस्था- समाधि का अर्थ चित्त की ऐसी गहन स्थिरता है जिसमें आत्मा के निजस्वरूप की ओर साधक की प्रवृत्ति दृढ़ हो जाती है। जैन आध्यात्मिक परंपरा में समाधि को आत्मा की शुद्ध परिणति और वीतरागता की दिशा में बढ़ती हुई साधना के संदर्भ में समझना चाहिए। समाधि में साधक बाहरी उपलब्धियों, इंद्रिय-सुखों और लौकिक पहचान से ऊपर उठकर आत्मा के वास्तविक स्वरूप को प्रधानता देता है। उसकी दृष्टि क्रमशः पर से हटकर स्व में प्रतिष्ठित होती है।

6. परम अवस्था कृवीतरागता और मोक्षमार्ग- अंतरात्मा से प्रारंभ हुई यह यात्रा अंततः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र की पूर्णता की ओर अग्रसर होती है। राग-द्वेष और मोह का क्षय होते-होते जीव कर्मबंधन से मुक्त होने की दिशा में बढ़ता है।

इसलिए अंतरात्मा से समाधि की यात्रा का सार है-
बाह्य से अंतर की ओर,
पर से स्व की ओर,
राग से वीतरागता की ओर,
अज्ञान से आत्मबोध की ओर,
और संसार से मोक्षमार्ग की ओर।
अंततः समाधि किसी क्षणिक मानसिक शांति मात्र का नाम नहीं है, यह निज आत्मस्वभाव में दृढ़ प्रतिष्ठा की आध्यात्मिक परिणति है।
कूट शब्द- अंतरआत्मा, आत्म द्रव्य, अनंत गुणमय, आत्म स्वभाव, राग द्वेष, विस्मृत, एकाग्रता, समाधि, आत्म चिन्तन, निज स्वभाव, आत्म अनुभुति, मोक्ष मार्ग, आध्यात्मिक परिणति।

प्रस्तावना

स्वर्गो के इन्द्र भी आपके गुणों के सम्मुख नतमस्तक है और आज पंचमकाल की इस कर्मभूमि में बैठा यह श्रवण भी आपके वीतराग स्वरूप का आलंबन ले रहा है। मैं चमत्कार के लिए आपकी स्तुति नहीं करूंगा, मैं आत्म जागरण के लिए आपके गुणों का चिंतन करूंगा।

उत्साहेन समायुक्ता नित्यं गायन्ति ये प्रभोः।
गुणगानं भवन्ति ते नैव कर्मदुःखोपयोगिनः।।
जो साधक उत्साह और श्रद्धा से प्रतिदिन प्रभु के गुणों का गान एवं स्मरण करते हैं, वे अपने चित्त को शुभ और शुद्ध भावों में लगाते हैं। ऐसे साधक कर्मजनित दुःखों में उपयोग को लगाने वाले नहीं होते, बल्कि आत्मकल्याण और मोक्षमार्ग की ओर अग्रसर होते हैं।

श्रान्तोऽसि संसृति वने, परितो भ्रमेण,
भो मित्र! मोह वशतो, विषयानुसंगात्।
श्वभ्रादि-दुःख-मनुभूय मनन्त बारं,
निः श्रेयसाय समुपैहि समाधि भावम्।।
वै.म. माला 22

हे मित्र! तुम मोह के वशीभूत होकर विषयों के प्रति आसक्ति के कारण इस संसार रूपी वन में चारों ओर भटकते-भटकते अत्यंत थक चुके हो। नरक आदि अनेक प्रकार के दुःखों को अनंत बार अनुभव कर चुके हो। अतः अब संसार में भटकना छोड़कर निःश्रेयस अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति के लिए समाधिभाव को धारण करो।

वयणोच्चारण किरियं, परिचत्ता वीयराय भावेण।
जो झायदि अप्पाणं, परम समाहि हवे तस्स।।122।। नि.सा.
जो साधक वचन के उच्चारण की क्रिया को छोड़कर, अर्थात् बाह्य वाणी और कथन में आसक्ति का त्याग करके, वीतराग भाव से अपने शुद्ध आत्मस्वरूप का ध्यान करता है, उसी साधक को परम समाधि प्राप्त होती है। यहाँ केवल बोलना बंद करना ही उद्देश्य नहीं है। वास्तविक अभिप्राय यह है कि साधक वाणी की प्रवृत्ति, विकल्प, राग-द्वेष और बाह्य विषयों से मन को हटाकर अपने ज्ञाता-द्रष्टा आत्मस्वरूप में स्थित हो।

द्रव्यानुयोग की दृष्टि- इस गाथा में वचन और आत्मा का भेद स्पष्ट होता है। वचन का उच्चारण आत्मा का शुद्ध स्वभाव नहीं है, आत्मा का स्वरूप ज्ञान-दर्शनमय, शुद्ध और चेतन है। अतः साधक जब वचनादि परद्रव्यों की ओर से उपयोग हटाकर अपने आत्मद्रव्य में स्थिर होता है, तब आत्मस्वरूप का अनुभव प्रकट होता है।

चरणानुयोग की दृष्टि- साधना में वाणी का संयम, विषय-विकल्पों का त्याग और वीतरागता अत्यंत आवश्यक है। बाह्य मौन तभी सार्थक है जब उसके साथ अंतरंग कषायों का क्षय/उपशम और आत्माभिमुखता हो।

करणानुयोग की दृष्टि- "वीयराय भावेण" अर्थात् वीतराग भाव से आत्मा का ध्यान करना, मोहनीय कर्म के प्रभाव को कम करने तथा आत्मोपयोग को शुद्ध करने की दिशा में साधना है। जैसे-जैसे राग-द्वेष और मोह का क्षय होता है, आत्मा की ज्ञान-दर्शन शक्ति अधिक निर्मल रूप से प्रकट होती है।

निश्चयनय की दृष्टि- इस गाथा का अत्यंत गूढ़ संदेश है- परम समाधि बाहर की क्रियाओं में नहीं, अपने शुद्ध आत्मा में स्थित होने से प्राप्त होती है। वाणी का त्याग साधन है, किंतु अपने शुद्ध ज्ञाता-द्रष्टा स्वरूप में स्थित होना परम लक्ष्य है।

सारः-
वाणी को शांत करना मौन है,
मन के विकल्पों को शांत करना समाधि है,
और शुद्ध आत्मा में स्थित होना परम समाधि है।

संजमणियम तवेण दु, धम्मज्झाणेण सुक्क झाणेण।
जो झायदि अप्पाणं, परम समाहि हवे तस्स । । 123 ।। नि.सा.
जो साधक संयम और नियम, तप, धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान के माध्यम से अपने शुद्ध आत्मस्वरूप का ध्यान करता है, उसी को परम समाधि प्राप्त होती है। यहाँ आत्मध्यान केवल मानसिक कल्पना नहीं है, बल्कि संयम, तप और ध्यान के द्वारा राग-द्वेष एवं बाह्य विषयों से उपयोग को हटाकर आत्मा में स्थिर करने की साधना है।

द्रव्यानुयोग की दृष्टि- "अप्पाणं झायदि" अर्थात् आत्मा का ध्यान करना इस गाथा का मुख्य तत्त्व है। आत्मा स्वयं ज्ञान-दर्शनमय चेतन द्रव्य है। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, वचन और बाह्य पदार्थ आत्मा से भिन्न हैं। साधक परभाव से उपयोग हटाकर अपने शुद्ध आत्मद्रव्य और उसके ज्ञानस्वभाव में स्थित होता है।

चरणानुयोग की दृष्टि- संयम और नियम साधक के आचरण को शुद्ध करते हैं तथा तप इन्द्रिय-विषयों और कषायों पर नियंत्रण की शक्ति प्रदान करता है। इस प्रकार बाह्य आचरण धीरे-धीरे अंतरंग आत्मसाधना का आधार बनता है। केवल तप करना पर्याप्त नहींय तप का उद्देश्य आत्माभिमुखता और वीतरागता है।

करणानुयोग की दृष्टि- धर्मध्यान और शुक्लध्यान आत्मा की ओर उपयोग को स्थिर करने वाले उच्चतर ध्यान हैं। कषायों और कर्मबंध के कारण आत्मा का ज्ञान-दर्शन पूर्ण रूप से प्रकाशित नहीं होता। ध्यान की विशुद्धता बढ़ने पर मोहनीय आदि कर्मों की निर्जरा होती है और आत्मा की विशुद्धि क्रमशः बढ़ती है।

शुक्लध्यान का विशेष संकेत- गाथा में "सुक्क झाणेण" (शुक्लध्यान) का उल्लेख विशेष महत्त्वपूर्ण है। शुक्लध्यान अत्यंत निर्मल आत्मोपयोग की अवस्था है, जिसमें साधक का उपयोग बाह्य विषयों से हटकर आत्मस्वरूप में अत्यंत एकाग्र होता है। यह साधना मोक्षमार्ग की उच्च अवस्था से संबद्ध है।

निश्चयनय की दृष्टि- निश्चय से देखा जाए तो संयम, तप और ध्यान का चरम प्रयोजन आत्मा में आत्मा का ध्यान है। जब उपयोग परभाव से निवृत्त होकर शुद्ध ज्ञाता-द्रष्टा आत्मा में प्रतिष्ठित होता है, तब वही परम समाधि का स्वरूप बनता है।

गाथा का सार-
संयम से आचरण शुद्ध हो,
तप से कषाय क्षीण हों,
धर्मध्यान से चित्त आत्माभिमुख हो,
शुक्लध्यान से उपयोग शुद्ध आत्मा में स्थिर होकृ
तभी परम समाधि की प्राप्ति होती है।

जिनवाणी रसपान करूँ मैं, जिनवर को ध्याऊँ।
आर्यजनों की संगति पाऊँ, व्रत संयम चाहूँ।।
गुणी जनों के सद्गुण गाऊँ, जिनवर यह वर दो।
मेरा अंतिम मरण समाधि, तेरे दर पर हो।।
भावार्थ एवं आध्यात्मिक विवेचन

इस पद्य में साधक भगवान जिनेन्द्र से अपने जीवन के लिए सांसारिक सुख-संपत्ति नहीं, बल्कि आत्मिक कल्याण की साधना का वरदान माँगता है। वह चाहता है कि उसका जीवन जिनवाणी के अध्ययन, जिनेन्द्र के ध्यान, आर्यजनों की संगति, व्रत-संयम और गुणी पुरुषों के सद्गुणों के स्मरण में व्यतीत हो। अंत में उसका मरण भी समाधिपूर्वक, शांत और आत्मचिंतनमय हो।

चरणानुयोग की दृष्टि- "जिनवाणी रसपान", "आर्यजनों की संगति", "व्रत-संयम" और "गुणी जनों के सद्गुण गाना"- ये सभी उत्तम आचरण की प्रेरणा देते हैं। साधक जिनवाणी को केवल सुनना नहीं चाहता, बल्कि उसके अनुसार जीवन को संयमित करना चाहता है। सत्संग से सद्भावना और सदाचार की वृद्धि होती है।

द्रव्यानुयोग की दृष्टि- "जिनवर को ध्याऊँ" पद आत्मा के शुद्ध स्वरूप की ओर संकेत करता है। जिनेन्द्र के वीतराग स्वरूप का ध्यान करते-करते साधक अपने भीतर स्थित ज्ञान-दर्शनमय आत्मस्वभाव की ओर उन्मुख होता है। बाह्य आराधना अंततः आत्मस्वरूप की पहचान का माध्यम बनती है।

करणानुयोग की दृष्टि- जिनवाणी का श्रवण, वीतराग भगवान का ध्यान, सत्संग तथा संयम- ये सभी कर्मनिर्जरा और आत्मविशुद्धि की दिशा में सहायक साधन हैं। राग-द्वेष और कषायों की मंदता से आत्मोपयोग अधिक निर्मल होता है और साधक समाधि-मरण की योग्यता प्राप्त करता है।

"जं कुणदि भावमादा, कत्ता सो होदि तस्स भावस्स।
णिच्छयदो ववहारा, पोग्गलकम्माण कत्तारं।।"

आत्मा जिस भाव को स्वयं करता है, निश्चय दृष्टि से वह उसी भाव का कर्ता है। और व्यवहार दृष्टि से आत्मा को पुद्गल कर्मों का कर्ता कहा जाता है।

द्रव्यानुयोग की दृष्टि से- यहाँ कर्तृत्व के दो पक्ष बताए गए हैं। निश्चय नय से- आत्मा अपने ज्ञान, दर्शन, राग, द्वेष, शुद्धता आदि भावों का ही कर्ता है। आत्मा स्वयं चेतन द्रव्य है, वह पुद्गल द्रव्य को वास्तव में अपना स्वरूप बनाकर नहीं करता।

व्यवहार नय से- राग-द्वेष आदि अशुद्ध भावों के निमित्त से आत्मा के साथ कर्मों का बंध होता है। इसलिए व्यवहार में उसे पुद्गल कर्मों का कर्ता कहा जाता है।

"सव्वमिदं उवदेसं, जिणदिट्ठ सद्दहामि तिविहेण।
तस थावर खेमकरं, सारं णिव्वास मग्गस्स।।91।।" कृ मू. आ.

मैं जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्रतिपादित समस्त उपदेश को मन, वचन और काय- इन तीनों प्रकार से श्रद्धापूर्वक स्वीकार करता हूँ। जिनवाणी में प्रतिपादित यह उपदेश त्रस और स्थावर सभी जीवों के लिए कल्याणकारी है तथा संसार से निवृत्ति और मोक्ष की प्राप्ति कराने वाले मार्ग का सारभूत स्वरूप है।

इस गाथा में आचार्य कहते हैं कि जिनेन्द्रदेव का उपदेश किसी एक वर्ग या किसी विशेष जीव तक सीमित नहीं है। वह समस्त जीवों के हित और कल्याण का मार्ग बताता है। साधक को केवल वाणी से जिनवचन की प्रशंसा नहीं करनी चाहिए, बल्कि मन से श्रद्धा, वचन से स्वीकार और काय से उसके अनुरूप आचरण करना चाहिए। जिनदर्शन का मूल उद्देश्य जीव को संसार के बंधन, राग-द्वेष और मोह से मुक्त करके आत्मस्वरूप की अनुभूति तथा मोक्षमार्ग की ओर ले जाना है। इसलिए जिनेन्द्र का उपदेश संसार-सागर से पार उतरने के लिए सारभूत और कल्याणकारी मार्गदर्शक है।

तात्त्विक संदेशः- जिनवाणी में श्रद्धा, उसके अनुसार आचरण और आत्मकल्याण की साधना- यही संसार से निवृत्ति एवं मोक्षमार्ग का सार है।

जिणवयणमोसहमिणं, विसयसुहविरेयणं अमिदभूदं।
जरमरणवाहिवेयणखयकरणं सव्वदुक्खाणं।।95।। मू. आ.
भगवान जिनेन्द्र की वाणी अमृत के समान औषधि है। यह औषधि विषय-सुखों के प्रति आसक्ति को दूर करने वाली तथा जन्म, जरा, मरण और संसाररूपी रोग की वेदना का नाश करने वाली है। जिनवाणी का श्रद्धापूर्वक श्रवण, मनन और आचरण करने से जीव समस्त दुःखों से मुक्ति पाने के मार्ग पर अग्रसर होता है।

दार्शनिक विवेचन- इस गाथा में जिनवाणी को 'औषधि' और संसार को रोग के रूप में प्रस्तुत किया गया है। जिस प्रकार उचित औषधि रोग का उपचार करती है, उसी प्रकार जिनेन्द्रदेव द्वारा प्रतिपादित तत्त्वज्ञान आत्मा को मोह, राग-द्वेष और विषयासक्ति से मुक्त करने का उपाय बताता है।

'जिणवयणमोसहमिणं'- जिनेन्द्र की वाणी संसार-रोग की औषधि है।
'विसयसुहविरेयणं'- यह इन्द्रिय-विषयों से प्राप्त क्षणिक सुखों की आसक्ति का त्याग कराती है।
'अमिदभूदं'- जिनवाणी अमृतस्वरूप है, क्योंकि वह आत्मा को शाश्वत सुख और मुक्ति की दिशा दिखाती है।

'जरमरणवाहिवेयणखयकरणं'- जन्म, बुढ़ापा और मृत्यु के निरंतर चक्र से उत्पन्न दुःख का मूल कारण कर्मबन्ध हैय जिनवाणी उस कर्मबन्ध से मुक्ति का मार्ग बताती है।

'सव्वदुक्खाणं'- समस्त सांसारिक दुःखों की वास्तविक निवृत्ति आत्मस्वरूप की पहचान और मोक्षमार्ग के आचरण से होती है।

प्रालेयनील-हरितारुण-पीतभासम्, यन्मूर्तिमव्यय सुखावसथं मुनीन्द्राः।
ध्यायन्ति सप्ततिशतं जिनवल्लभानाम्, त्वद्ध्यानतोऽस्तु सततं मम सुप्रभातम्।।10, सु. स्तो.।।

भावार्थ- हे जिनेन्द्र भगवान! आपकी वह अविनाशी, सुख का आश्रय देने वाली दिव्य मूर्ति, जो हिम के समान श्वेत, नील, हरित, अरुण और पीत आदि विविध आभाओं से प्रकाशित है, जिसका मुनिराज निरंतर ध्यान करते हैं और जो जिनभक्तों के लिए अत्यंत प्रिय एवं आराध्य है, उसका ध्यान करते हुए मेरा प्रत्येक प्रभात मंगलमय हो। आपके पवित्र ध्यान के प्रभाव से मेरे जीवन में सदैव शुद्ध विचार, आत्मिक शांति, सम्यग्दर्शन और मोक्षमार्ग की भावना जागृत होती रहे।

दार्शनिक भाव- यहाँ "त्वद्ध्यानतः" विशेष महत्त्वपूर्ण है। जिनेन्द्र भगवान का ध्यान केवल बाहरी मूर्ति के स्वरूप का चिंतन नहीं है, बल्कि उनके वीतराग, निर्मल, ज्ञानमय और शुद्ध आत्मस्वभाव का स्मरण है। साधक जब जिनेन्द्र के वीतराग स्वरूप को बार-बार चिंतन में धारण करता है, तब उसके भीतर भी राग-द्वेष के क्षय और आत्मशुद्धि की भावना दृढ़ होती है।

"अव्यय सुखावसथम्" का आशय है- ऐसा अविनाशी सुख का स्थान, जो संसार के क्षणिक विषय-सुखों से भिन्न है। जिनेन्द्र का स्वरूप परम शुद्ध आत्मा और अनंत ज्ञान-दर्शन-सुख का आदर्श है।

चार अनुयोगों की दृष्टि से- द्रव्यानुयोगः जिनेन्द्र की अविनाशी मूर्ति के माध्यम से शुद्ध, ज्ञान-दर्शनमय आत्मद्रव्य का चिंतन।
चरणानुयोगः जिनेन्द्र के वीतराग स्वरूप का ध्यान करके संयम, त्याग और राग-द्वेष से निवृत्ति की प्रेरणा।

करणानुयोगः कर्मावरणों से मुक्त होकर आत्मा में अनंत ज्ञान और दर्शन की पूर्ण अभिव्यक्ति की दिशा का संकेत।
प्रथमानुयोगः जिनेन्द्र भगवान की दिव्य महिमा, उनके पूज्य स्वरूप और मुनियों द्वारा किए जाने वाले ध्यान का भक्तिपूर्वक वर्णन।
सारः- यह श्लोक साधक को प्रेरणा देता है कि दिन का आरंभ जिनेन्द्र के वीतराग स्वरूप के ध्यान से हो और उसी ध्यान के द्वारा बाह्य प्रभात को आंतरिक आत्म-जागरण के प्रभात में परिवर्तित किया जाए।

जो जाणदि अरिहंतं, दव्वत्त गुणत्त पज्जत्तयेहिं।
सो जाणादि अप्पाणं, जादु तस्स मोह लयं।।80।।

जो साधक अरिहंत भगवान को द्रव्य, गुण और पर्याय- इन तीनों दृष्टियों से यथार्थ रूप में जानता है, वह वास्तव में अपने आत्मस्वरूप को भी जानने लगता है। क्योंकि अरिहंत के शुद्ध स्वरूप का ज्ञान होते-होते आत्मा के प्रति सम्यक् दृष्टि उत्पन्न होती है और उसके मोह का क्षय अथवा लय होने लगता है।

द्रव्यानुयोग की दृष्टि से- अरिहंत का द्रव्य आत्मा है, जिसका मूल स्वभाव चेतना है, उनके गुण अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य आदि हैं तथा उनकी पर्याय पूर्ण वीतराग एवं सर्वज्ञ अवस्था है। साधक जब इन तीनों के माध्यम से अरिहंत को समझता है, तब वह यह अनुभव करता है कि जिस आत्मद्रव्य में ये शुद्ध गुण विद्यमान हैं, उसी आत्मतत्त्व की ओर उसे भी अग्रसर होना है। इस प्रकार जिनका ज्ञान आत्मज्ञान का निमित्त बन जाता है।

मोह के लय का संकेत- यहाँ 'मोह' से तात्पर्य आत्मा के वास्तविक स्वरूप को विस्मृत कर पर-पदार्थों में राग-द्वेष तथा मिथ्यात्वपूर्ण आसक्ति करना है। अरिहंत के वीतराग स्वरूप का चिंतन करने से साधक को अपने भीतर स्थित राग-द्वेष की अशुद्धि का बोध होता है। परिणामतः मोहनीय भाव क्रमशः क्षीण होते जाते हैं और आत्मा अपने शुद्ध ज्ञाता-द्रष्टा स्वरूप की ओर उन्मुख होती है।

ध्यानाज्जिनेश भवतो भविनः क्षणेन
देहं विहाय परमात्मदशां व्रजन्ति।
तीव्रानलादुपलभावमपास्य लोके
चामीकरत्वमचिरादिव धातुभेदाः।।15।।

हे जिनेश्वर! आपके स्वरूप का ध्यान करने से भव्य जीव थोड़े ही समय में देहाभिमान को छोड़कर परमात्म-दशा को प्राप्त करने की दिशा में अग्रसर हो जाते हैं। जैसे संसार में विभिन्न धातुएँ तीव्र अग्नि के संयोग से अपनी अशुद्धता और पत्थर-जैसी अवस्था को छोड़कर शीघ्र ही स्वर्ण के समान निर्मल हो जाती हैं, वैसे ही जिनेन्द्र के ध्यान की अग्नि में तपकर जीव अपने कर्ममल को दूर कर परम शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त करता है।

द्रव्यानुयोग की दृष्टि- यहाँ देह और आत्मा के भेद-विज्ञान को प्रमुखता दी गई है। देह पुद्गल है, जबकि आत्मा चेतन द्रव्य है। जिनेन्द्र के शुद्ध, वीतराग और अनंतज्ञानमय स्वरूप का ध्यान करने से साधक का उपयोग बाह्य देह से हटकर अपने ज्ञाता-द्रष्टा आत्मस्वभाव में स्थिर होने लगता है। वास्तव में ध्यान आत्मा में कोई नया गुण उत्पन्न नहीं करता, बल्कि कर्मावरण से ढके हुए उसके शुद्ध स्वरूप को प्रकट करने का साधन बनता है।

करणानुयोग की दृष्टि- "तीव्रानल" यहाँ साधना की तीव्रता और कर्मनिर्जरा का सुंदर प्रतीक है। जिस प्रकार अग्नि धातु के मल को जलाकर उसे अधिक विशुद्ध बनाती है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन, संयम और शुद्ध ध्यान के द्वारा कर्मों की निर्जरा होती है। मोहनीय आदि कर्मों का क्षय-उपशम बढ़ने पर आत्मा की विशुद्धि क्रमशः बढ़ती जाती है और अंततः केवलज्ञान तथा परमात्म-पद की प्राप्ति होती है।

चरणानुयोग की दृष्टि- श्लोक साधक को जिनध्यान, देहाभिमान-त्याग, संयम और आत्मस्थिरता की प्रेरणा देता है। केवल जिनेन्द्र की बाहरी उपासना ही नहीं, बल्कि उनके वीतराग स्वरूप को अपने जीवन में ध्येय बनाना आवश्यक है। राग-द्वेष और विषयासक्ति से निवृत्त होकर आत्मा में एकाग्रता करना ही वास्तविक साधना है।

प्रथमानुयोग की दृष्टि- जिनेन्द्र भगवान का ध्यान भव्य जीव के भीतर वैराग्य और आत्मजागरण उत्पन्न करता है। जिनेन्द्र के परम शुद्ध स्वरूप का स्मरण साधक को संसार की क्षणभंगुरता से ऊपर उठाकर मोक्षमार्ग की ओर प्रेरित करता है।

मुख्य संदेश- जैसे अग्नि में तपकर धातु का मल दूर होकर उसकी चमक प्रकट होती है, वैसे ही जिनेन्द्र-ध्यान से आत्मा पर पड़े कर्ममल का क्षय होकर उसका स्वाभाविक ज्ञान-दर्शन और परम शुद्ध स्वरूप प्रकट होता है।
णयरम्मि वण्णदे जह, ण वि रण्णो वण्णणां कदा होदि।
देहगुणे थुव्वंते, ण केवलि गुणा थुदा होंति ।। 30 ।। स.सा.

जिस प्रकार किसी नगर की सुंदरता, विस्तार, वैभव और विशेषताओं का वर्णन कर देने मात्र से उस नगर के राजा के गुणों का वर्णन नहीं हो जाता, उसी प्रकार देह के गुणों का वर्णन कर देने मात्र से आत्मा अथवा केवलज्ञानी भगवान के गुणों की स्तुति नहीं मानी जा सकती। देह पुद्गलमय, जड़ और परिवर्तनशील है, जबकि आत्मा चेतनस्वरूप है। केवली भगवान की वास्तविक महिमा उनके अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य जैसे आत्मिक गुणों में निहित है। अतः यदि स्तुति केवल शरीर की सुंदरता, आकृति, वर्ण, कांति आदि तक सीमित रह जाए, तो वह जिनेन्द्र के वास्तविक स्वरूप की स्तुति नहीं है।

द्रव्यानुयोग की दृष्टि से- यह गाथा स्व-द्रव्य और पर-द्रव्य के भेद-विज्ञान को स्पष्ट करती है। शरीर आत्मा नहीं हैय वह पुद्गल द्रव्य है। आत्मा चेतन द्रव्य है और उसके गुण ज्ञान-दर्शन आदि हैं। इसलिए देह के गुणों को आत्मा के गुण मान लेना मिथ्यात्वजन्य देहात्मबुद्धि है।

करणानुयोग की दृष्टि से- केवलज्ञान की पूर्णता कर्मावरणों के क्षय से प्रकट होती है। इसलिए केवली भगवान की महिमा उनके शरीर की विशेषताओं में नहीं, बल्कि ज्ञानावरण आदि कर्मों के पूर्ण क्षय से प्रकट हुई अनन्त ज्ञान-दर्शन की निर्मलता में है।

चरणानुयोग की दृष्टि से- सच्ची जिन-स्तुति केवल बाह्य रूप की प्रशंसा नहीं, बल्कि भगवान के वीतराग चरित्र और आत्मिक गुणों को आदर्श बनाकर अपने जीवन में राग-द्वेष का क्षय करने की प्रेरणा है।

सारः- देह की स्तुति करने से जिनेन्द्र के गुणों की स्तुति नहीं होतीय जिनेन्द्र की सच्ची स्तुति उनके शुद्ध, वीतराग और अनन्त आत्मिक गुणों का स्मरण तथा अपने आत्मस्वरूप की ओर उन्मुख होना है।

नवपुण्यैः प्रतिपत्ति, सप्तगुणसमाहितेन शुद्धेन।
अपसूनारम्भाणां, आर्याणामिष्यते दानम्।।113।।

भावार्थ- जिस दान में नव प्रकार की पुण्यभावनाओंध्पुण्योपयोग से युक्त विधि, सात गुणों से संपन्न शुद्ध भाव, तथा हिंसारहित और अनारम्भी आर्य पुरुषों के प्रति श्रद्धापूर्वक दान किया जाता है, वही दान प्रशस्त एवं इष्ट माना गया है। यहाँ दान की महत्ता केवल वस्तु देने में नहीं, बल्कि दाता के शुद्ध भाव, उचित पात्र, अहिंसामय जीवन और दान देने की विधि में मानी गई है।

तत्त्वार्थ की दृष्टि से- जैन दर्शन में दान का वास्तविक पुण्य उसके भाव से निर्धारित होता है। यदि दान अहंकार, यश, प्रतिष्ठा या सांसारिक लाभ की इच्छा से किया जाए तो उसकी आध्यात्मिक निर्मलता कम हो जाती है। इसके विपरीत, विनय, श्रद्धा, शुद्धता और निष्काम भाव से किया गया दान पुण्यबन्ध का कारण बनता है। "अपसूनारम्भाणाम्" का आशय ऐसे आर्य साधु-संतों से है जो हिंसा और सांसारिक आरम्भ-परिग्रह से दूर रहते हैं। ऐसे पात्र को श्रद्धापूर्वक आहार, औषधि, ज्ञानोपकरण आदि की आवश्यकतानुसार सहायता देना पात्रदान की श्रेष्ठ भावना है।

चरणानुयोग की दृष्टि से- इस गाथा में गृहस्थ के लिए पात्रदान, विनय और अहिंसापूर्वक जीवन-व्यवहार की प्रेरणा है। दान देते समय दाता को पात्र की योग्यता, वस्तु की शुद्धता और अपनी मनोभावनाकृतीनों का ध्यान रखना चाहिए।

करणानुयोग की दृष्टि से- दान के समय उत्पन्न श्रद्धा, विनय, करुणा, अनासक्ति और निष्कामता जैसे शुभ भाव आत्मा में पुण्यप्रकृति के बंध का कारण बनते हैं। अतः बाहरी दान के साथ अंतःकरण की भावशुद्धि अत्यंत आवश्यक है।

द्रव्यानुयोग की दृष्टि से- वास्तव में आत्मा का स्वरूप ज्ञाता-द्रष्टा और शुद्ध चैतन्यमय है। दान आत्मा का स्वभाव नहीं, बल्कि व्यवहार में होने वाली शुभ परिणति है। इसलिए दान करते हुए भी साधक को परद्रव्य में आसक्ति न रखकर अपने शुभ भावों को निर्मल करने का प्रयत्न करना चाहिए।

सारः- श्रेष्ठ दान वही है जो शुद्ध भाव से, योग्य पात्र को, अहिंसामय विधि से और बिना अहंकार अथवा प्रतिफल की अपेक्षा के दिया जाए।

"साधुनां दर्शनं पुण्यं, तीर्थभूता हि साधवः।
कालेन फलति तीर्थं, सद्यः साधु समागम"।।

साधु-संतों के दर्शन मात्र से पुण्य का बंध होता है, क्योंकि साधु स्वयं चलते-फिरते तीर्थ के समान होते हैं। तीर्थस्थल में जाकर किए गए दर्शन, पूजा या साधना का फल उचित समय आने पर प्राप्त होता है, किंतु सच्चे साधु का समागम और उनका सान्निध्य तत्काल आत्मकल्याण की प्रेरणा देने वाला होता है।

दार्शनिक विवेचन- यह श्लोक साधु-संगति की महत्ता को अत्यंत प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करता है। तीर्थ वह है जो जीव को संसार-सागर से पार जाने का मार्ग दिखाए और साधु अपने संयम, तप, त्याग, समता तथा आत्मसाधना से स्वयं उस मार्ग पर चलते हुए दूसरों को भी प्रेरित करें। इसलिए साधु को "तीर्थभूत" कहा गया है।

तीर्थस्थान का प्रभाव क्रमशः और समयानुसार फलित होता है, जबकि साधु का प्रत्यक्ष समागम जीव के भीतर वैराग्य, विवेक, श्रद्धा और आत्मजागरण को उसी क्षण उत्पन्न कर सकता है। उनके दर्शन से बाहरी चमत्कार की अपेक्षा नहीं, बल्कि अपने जीवन को संयम, सदाचार और आत्मचिंतन की दिशा में मोड़ना ही वास्तविक पुण्य है।

सारः- तीर्थ का फल समय के साथ मिलता है, परंतु सच्चे साधु का सान्निध्य उसी क्षण जीवन की दिशा बदलने की प्रेरणा दे सकता है।

निष्कर्ष

जीवन में समाधि के साथ संयम आवष्यक है। क्योंकि सम्यक को ही जीवन का संयम कहते हैं और संयम से ही समाधि प्राप्त होती है।

वदसमिदि कसायाणं, दंडाणं तहिंदयाण पंचहणं।
धारण पालण णिग्गह, चाग जओ संजमो भणियो।।

व्रतों का धारण और पालन, पाँच समितियों का सावधानीपूर्वक आचरण, कषायों तथा पाँच प्रकार के दण्डों का निग्रह, और विषय-विकारों का त्याग- इन सबके समुचित पालन को संयम कहा गया है। जैन दर्शन में संयम केवल बाहरी क्रियाओं को रोकने का नाम नहीं है, बल्कि मन, वचन और काय की प्रवृत्तियों को विवेकपूर्वक नियंत्रित करके आत्मा को पाप एवं आस्रव से बचाना ही वास्तविक संयम है। साधक जब हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह से विरत होकर तथा क्रोध, मान, माया और लोभ जैसी कषायों पर विजय प्राप्त करने का पुरुषार्थ करता है, तब उसका जीवन संयममय बनता है। यह गाथा विशेष रूप से बताती है कि संयम = व्रत ़ समिति ़ निग्रह ़ त्याग। संयम का अंतिम उद्देश्य बाहरी अनुशासन मात्र नहीं, बल्कि आत्मस्वरूप की ओर उन्मुख होकर कर्मबन्ध को रोकना और आत्मशुद्धि की दिशा में बढ़ना है।

संदर्भ

1. समयसार आचार्य कुंदकुंद स्वामी 19/2
2. वै.म. माला 22
3. नियमसार 122/123
4. आचार्य वट्टकैर स्वामी मू.अ. 91/95
5. पंचास्तिकाय कुंदकुंद देव 80

6. कल्याण मंदिर कुमुदचंद्र देव 15
7. समयसार कुंदकुद देव 30
8. आचार्य समन्तभद्र स्वामी र.क.श्रा. 113
9. भगवति आराधना आ. षिवकोटी 3
10. आचार्य नेमीचन्द्र देव द्रव संग्रह